प्रमाणमीमांसा : एक अध्ययन

श्री श्रीचन्द चोरड़िया

एक विवेचन

आत्मा का स्वरूप-गुण चैतन्य है। आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थों में यह लक्षण प्राप्त नहीं होता है। अतः यह चैतन्य गुण जड़ पदार्थों से आत्मा को भिन्न करने वाला होता है। ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति को **उपयोग** कहते हैं।[1] चैतन्यलक्षण उपयोग रूप होता है। आत्मा के अनन्त गुणों में यह चैतन्यात्मक उपयोग ही ऐसा असाधारण गुण है जिससे आत्मा लक्षित होता है।[2]

वस्तु में दो प्रकार के गुण होते हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण।[3] सामान्य गुण का ग्राही दर्शन और विशेष गुण का ग्राही ज्ञान है। दर्शन को निराकारोपयोग तथा ज्ञान को साकारोपयोग भी कहा जाता है। दर्शन का काल विषय और विषयी के सन्निपात के पहले है[4] जिसमें ज्ञेय का प्रतिभास नहीं होता है।[5] दार्शनिक ग्रंथों में दर्शन का काल विषय और विषयी के सन्निपात के अनन्तर है।[6] इस कारण से ही पदार्थ के सामान्यावलोकन के रूप से दर्शन की प्रसिद्धि हुई।[7] बौद्धों के द्वारा मानित निर्विकल्प ज्ञान और नैयायिकादि सम्मत निर्विकल्प प्रत्यक्ष नहीं है।

प्रमाण का लक्षण

ज्ञान के द्वारा वस्तु की विशेष अवस्थाओं का ज्ञान होता है। जिस ज्ञान का प्रतिभासित पदार्थ ठीक उसी रूप में मिल जाय जिस रूप में कि उसका बोध हुआ है, वह ज्ञान **प्रमाण** कहलाता है।[8] ज्ञान की तरह दर्शन वस्तुस्पर्शी न होने के कारण प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जाता है। वह सामान्य अंश का भी मात्र आलोकन ही करता है, निश्चय नहीं। जिस ज्ञान का प्रतिभासित पदार्थ जैसा का तैसा मिल जाता है, वह अविसंवादी ज्ञान सत्य है और प्रमाण है।[9]

यद्यपि आगमिक क्षेत्र में जो ज्ञान मिथ्यादर्शन का सहचारी है वह मिथ्या है और जो ज्ञान सम्यग्दर्शन का सहभावी है वह सम्यक् कहलाता है,[10] परन्तु दार्शनिक परम्परा साहित्य के अनुसार प्रतिभासित विषय का अव्यभिचारी होना ही प्रमाणता की कुंजी है।[11]

प्रमीयते येन तत्प्रमाणम् अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, उसे प्रमाण कहते हैं। ऐसा भी कहा जा सकता है जो प्रमा का साधकतम करण हो, वह प्रमाण है। जानना या प्रमारूप क्रिया चेतन है, अतः उसमें साधकतम उसी का गुण-ज्ञान ही हो सकता है। इन्द्रिय-सन्निकर्षादि स्वयं अचेतन हैं, अतएव अज्ञान रूप होने के कारण प्रमिति में साक्षात् करण नहीं हो सकते।[12] अंधकार की निवृत्ति में दीपक की

---

१. 'उपयोगलक्षणो जीवः', जैनसिद्धांतदीपिका, प्र० २
२. 'उद्दिष्टस्यासाधारणधर्मवचनम्—लक्षणम्', प्रमाणमीमांसा, १/१
३. प्रमाणमीमांसा, १/१
४. 'विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था इत्यर्थः', धवला टी०, १४६
५. बृहद्द्रव्यसं० टीका, गा० ४३
६. 'विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति', सर्वार्थसिद्धि, १/३५
७. 'विषयाकार एवास्य, प्रमाणं तेन मीयते', प्रमाणसमुच्चय, पृ० २४
८. प्रमेयरत्नमाला, ६/१
९. 'यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता', सिद्धिवि०, १/२०
१०. नंदीसूत्र
११. 'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणं प्रमायां साधकतमम्', प्रमाणमीमांसा, १/१
१२. 'सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्', लघी० स्ववृत्ति, १/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह अज्ञाननिवृत्ति में प्रमाण ही साधकतम होता है। **जानाति** क्रिया जानने रूप क्रिया ज्ञान गुण की पर्याय है, अतः उसमें अव्यवहित कारण ज्ञान ही हो सकता है। हितप्राप्ति और अहितपरिहार करने में समर्थ प्रमाण ही हो सकता है।[१]

स्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक ज्ञान अविसंवादी होता है, चाहे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रूप में क्यों न हो।[२] यह नियम नहीं है कि ज्ञान घटपटादि पदार्थों की तरह अज्ञात रूप में उत्पन्न हो जाय और पीछे मन आदि के द्वारा उसका ग्रहण हो। यदि ज्ञान अपने स्वरूप को न जाने तो उसके द्वारा पदार्थ का बोध भी नहीं हो सकता। अतः संशयादि ज्ञानों में भी ज्ञानांश का अनुभव अपने आप उसी ज्ञान के द्वारा होता है। जो ज्ञान स्वरूप का ही प्रतिभास करने में असमर्थ है, वह पर का अवबोधक कैसे हो सकता है।[३]

स्वरूप की दृष्टि से सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणता का विभाग बाह्य अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से संबंध रखता है। स्वरूप की दृष्टि से न कोई ज्ञान प्रमाण है और न प्रमाणाभास।[४]

आचार्यों ने प्रमाण के लक्षण में **स्वपरावभासक** विषय दिया है। उस तत्वज्ञान को भी प्रमाण कहा है जो एक साथ सबका अवभासक होता है। ज्ञान चाहे अपूर्व पदार्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह **स्वार्थव्यवसायात्मक** होने से प्रमाण ही है।[५] कतिपय आचार्यों ने **अविसंवाद** को प्रमाणता का आधार माना है।[६]

उत्तरकालीन जैन आचार्यों ने प्रमाण का लक्षण—**सम्यग्ज्ञान** और **सम्यगर्थनिर्णय** किया है अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ का यथार्थ रूप से निर्णय किया जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।[७]

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक संबंध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और संशय, विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण केवल यथार्थ-ज्ञान होता है। वस्तु का संशयादि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

प्रमाण सामान्य लक्षण की तार्किक परम्परा के उपलब्ध इतिहास में कणाद का स्थान प्रथम है। उन्होंने **अदुष्टमविधा** कहकर प्रमाण सामान्य का लक्षण कारण-शुद्धि-मूलक सूचित किया है। आचार्य वात्स्यायन ने **उपलब्धिहेतुत्व** को प्रमाण सामान्य का लक्षण कहा है।[८] संभवतः उन्होंने उपलब्धि रूप फल की ओर दृष्टि न रखकर ऐसा कहा हो। वाचस्पति मिश्र ने **अर्थ** पद का संबंध जोड़कर प्रमाण सामान्य का लक्षण सूचित किया।[९] प्रमाण सामान्य का यह लक्षण बाद के सभी न्याय-वैशेषिक दर्शनों में मान्य है।[१०]

उपर्युक्त प्रमाण-सामान्य की परिभाषा में **स्वपरप्रकाशत्व** की चर्चा का विवेचन नहीं मिलता, न सम्यक् रूप से जानने की क्रिया का उल्लेख है।[११] अतः प्रमाण-सामान्य लक्षण सम्यक् प्रकार से घटित नहीं होता है।

यद्यपि प्रभाकर (मीमांसक) ने **अनुभूति** मात्र को ही प्रमाण माना है[१२] तथा कुमारिल भट्ट ने **अनधिगतार्थगन्तृ** को प्रमाण माना है।[१३] परन्तु इस लक्षण से भी स्वपरप्रकाशत्व का बोध नहीं होता है।

---

१. 'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्', परीक्षामुख, १/२

२. 'भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवा।
बहिर्प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ।।', आप्तमीमांसा, ७३

३. 'प्रमेयं नान्यथा गृह्णातीति यथार्थत्वमस्य', भिक्षुन्याय०, १/११

४. 'सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम्।
बहिरर्थापेक्षया तु किंचित् प्रमाणं, किंचित् प्रमाणाभासम् ।।', प्रमाणनयतत्वालोकालंकार, १/१९

५. 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्', न्यायावता०, श्लो० १
'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिर्लक्षणम्', बृ० स्वयं०, ६३

६. 'प्रमाणाविसंवादिज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणम्', अष्टसहस्री, पृ० १७

७. 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं', न्यायदीपिका
'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्', प्रमाणमीमांसा, १/२

८. न्यायभाष्य, १/१/३

९. तात्पर्य०, पृ० २१

१०. न्यायकु०, ४/१/१५

११. 'स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्', तत्त्वार्थश्लोक०, १/१०/७७

१२. 'अनुभूतिश्च प्रमाणम्', बृहती, १/१/५

१३. 'अनधिगतार्थस्तु प्रमाणम् इति भट्टमीमांसका आहुः', सि० चंद्रो०, २०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्ध दर्शन में प्रमाण सामान्य के लक्षण **स्वसंवित्ति**[1], **प्रवृत्तिसामर्थ्य, अविसंवादित्व** आदि उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रमाण के इस लक्षण से सम्यक् रूप से निर्णय नहीं होता है अर्थात् स्वपरप्रकाशत्व नहीं करते हैं। यद्यपि बौद्धों द्वारा मानित जो प्रमाण का लक्षण **स्वसंवित्ति** किया गया है, उसका एक या दूसरे रूप में अन्य दार्शनिकों पर प्रभाव अवश्य पड़ा। जैनेतर दर्शनों में सिर्फ बौद्धदर्शन में ही **स्वसंवेदन** विचार का प्रवेश हुआ। वस्तुतः बौद्ध दर्शन की इस परिभाषा से ज्ञानसामान्य में स्वपरप्रकाशत्व का संकेत अवश्य उपलब्ध हुआ।[2]

बौद्ध दर्शन में प्रमा के करण के रूप में **सारूप्य, तदाकारता** को स्वीकृत किया है।[3] परन्तु **अर्थाकारिता** ज्ञान के साथ अन्वय और व्यतिरेक न होने से प्रमा के करण के रूप में प्रयोजक नहीं हो सकती।[4] अर्थाभाव में भी उस वस्तु का ज्ञान हुआ देखा जाता है। सीप में चांदी का प्रतिभास करने वाला ज्ञान प्रतिभास के अनुसार बाह्यार्थ की प्राप्ति न होने के कारण प्रमाण कोटि में नहीं डाला जा सकता।[5] संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—ये ज्ञान भी तो अंततोगत्वा पदार्थाकार ही होते हैं।[6]

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—इनके द्वारा वस्तु का यथार्थ रूप से निर्णय नहीं किया जाता है, अतः आचार्यों ने इन्हें प्रमाण से बहिष्कृत किया है।[7] प्रमाण के अन्य लक्षणों में पाये जाने वाले निश्चित, बाधवर्जित, अदुष्टकारणजन्यत्व, लोकसम्मतत्व, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक विशेषण **सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं**—इस एक ही विशेष पद से गृहीत हो जाते हैं।

जैनेन्द्र व्याकरण में कहा है—**साधकतमं करणं**, इस परिभाषा के अनुसार प्रमाण शब्द करण साधन है, अतः कर्त्ता-प्रमाता, कर्म-प्रमेय और क्रिया-प्रमिति प्रमाण नहीं होते।[8] यद्यपि वही आत्मा प्रमितिक्रिया में व्याप्त होने के कारण प्रमाता कहलाता है[9] और वह फिर भी पर्याय की दृष्टि से यदि प्रमिति क्रिया में साधकतम हो तो प्रमाण कहलाता है।[10] आचार्यों ने प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता को द्रव्यदृष्टि से अभिन्न माना है। प्रमाण शब्द का करणार्थक ज्ञान पद शब्द के साथ सामानाधिकरण्य भी सिद्ध हो जाता है।[11] इन्द्रियादि सामग्री ज्ञान की उत्पत्ति में तो साक्षात् कारण होती है परन्तु **अर्थोपलब्धि** (प्रमा) में साधकतम करणज्ञान ही होता है। ज्ञान को उत्पन्न किये बिना वह सीधे अर्थोपलब्धि नहीं करा सकती। प्रमा भावसाधन है और वह प्रमाण का फल है जबकि ज्ञान करण साधन और स्वयं करणभूत प्रमाण है।[12]

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने जैनसिद्धांतदीपिका में कहा है—**यथार्थनिर्णायिज्ञानं प्रमाणम्** अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थ का सम्यक् रूप से निर्णय किया जाता है[13] उसे प्रमाण कहते हैं। अतः सम्यग्ज्ञान ही एकांत रूप से प्रमाण हो सकता है।

यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय के कतिपय आचार्यों ने **धारावाहिक** और **गृहीतग्राही** ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है[14] परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कहना है कि ज्ञान की प्रमाणता का आधार अविसंवाद या सम्यग्ज्ञान है, वह चाहे गृहीतग्राही हो चाहे अगृहीतग्राही। आर्थिक तात्पर्य में मतभेद न होने के कारण भी दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्यों के प्रमाण के लक्षण में शाब्दिक भेद है। संभवतः यह भेद किसी अंश में विचार विकास का सूचक और तत्कालीन भिन्न साहित्य के अभ्यास का परिणाम है।

---

१. 'स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।', प्रमाणसं०, १/१०

२. 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्', प्रमाणनय०, १/२

३. 'प्रमाणं तु सारूप्यं, योग्यता वा।', तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १३/४४

४. 'तदन्वयव्यतिरेकानुभावाच्च', परीक्षामुख, प्र० १

५. 'अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शीप्रत्ययः संशयः', प्रमाणमीमांसा, १/५

६. अष्टसहस्री

७. 'तत्र निर्णयः संशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं ज्ञानम्। ततो निर्णय-पदेनाज्ञानरूपस्येन्द्रियसन्निकर्षादेः, ज्ञानरूपस्यापि संशयादेः प्रमाणत्वनिषेधः।', प्रमाणमीमांसा, १/२

८. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड

९. जैनसिद्धांतदीपिका, प्र० ९

१०. न्यायदीपिका, प्र० १

११. वही

१२. 'तस्याज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावतः प्रमाणत्वायोगात् तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्य अज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्', प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० ८
'प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्', सन्मतिटीका, पृ० ५१८

१३. 'संशयादिराहित्येण यथार्थनिर्णीयते इत्येवं शीलं ज्ञानं प्रमाणम्', जैनसिद्धांतदीपिका, पृ० ९

१४. 'गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्।', तत्त्वार्थश्लो०, १/१०/७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हेमचंद्र ने पुराने आचार्यों द्वारा मानित स्व, अपूर्व, अनधिगत आदि सबको न रखकर **सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्** कहा है। आचार्य विद्यानंद ने अभ्यास के स्थान में **व्यवसाय** अथवा **निर्णीति** पद रखकर विशेष अर्थ समाविष्ट किया है। यह समंतभद्र के लक्षण का शब्दान्तर मात्र मालूम होता है।[१]

एक ही प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को **प्रमाणसंप्लव** कहते हैं। बौद्धों का कहना है कि जिस विवक्षित पदार्थ से कोई एक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह पदार्थ दूसरे क्षण में नियमतः नष्ट हो जाता है, अतः किसी भी अर्थ में हो, ज्ञान की प्रवृत्ति का अवसर ही नहीं है।[२] पर उनका यह कहना यथोचित नहीं है। पदार्थ एकांत रूप से क्षणिक नहीं हो सकता है। उसे कथंचित् नित्य और **सामान्य-विशेषात्मक** कहा जाता है। यही प्रमाण का विषय होता है। पदार्थ अनंतधर्मात्मक होता है। वस्तु के कतिपय अंशों के निश्चित होने पर अगृहीत अंशों को जानने के लिए प्रमाणांतर को अवकाश ही रहता है। अतः अनिश्चित अंश के निश्चय में अथवा निश्चितांश में उपयोग विशेष हो जाने पर ही प्रमाणसंप्लव माना जाता है।[३]

नैयायिक का कहना है कि यदि इन्द्रियादि कारण कलाप मिलते हैं तो प्रमाण की प्रवृत्ति अवश्य ही होगी। उन्होंने प्रत्येक अवस्था में **प्रमाणसंप्लव** स्वीकृत किया है। जैन दर्शन में अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा ज्ञानों के ध्रुव और अध्रुव भेद भी किये गये। नित्यानित्य पदार्थ में सजातीय या विजातीय प्रमाणों की प्रवृत्ति और संवाद के आधार पर उनकी प्रमाणता को स्वीकार करते ही हैं। विशेष परिच्छेद के अभाव में भी यदि संवाद है तो भी प्रमाणता अवश्य ही होगी।

यद्यपि कतिपय स्थलों पर गृहीतग्राही ज्ञान को प्रमाणाभास में अंतर्भूत किया है। प्रमाण के लक्षण में दिगम्बर आचार्यों ने **अपूर्वार्थ** पद या **अनधिगत** विशेषण दिया है, इस कारण इसे प्रमाणाभास में रखा है। वास्तव में प्रमाण का लक्षण सम्यगर्थ का निर्णय करना है, अपूर्वार्थग्राहित्व नहीं।[४] पदार्थ के नित्यानित्य होने के कारण उसमें अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं होती।[५]

प्रमाण का प्रामाण्य

प्रमाण सत्य होता है, इसमें कोई द्वैध नहीं, फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नहीं है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं।[६] जैन दृष्टि के अनुसार वह याथार्थ्य है। याथार्थ्य का अर्थ है—ज्ञान की तथ्य के साथ संगति।[७]

आचार्य विद्यानंद अबाधित तत्व, बाधक प्रमाण के अभाव या कथनों के पारस्परिक सामञ्जस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं।[८] ज्ञान तब तक सत्य नहीं होता, जब तक वह फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं बन सकता। यह भी सार्वदिक सत्य नहीं है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। क्वचित् 'यह सत्य की कसौटी बनता है' इसलिए यह अमान्य भी नहीं है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। ज्ञानोत्पादक सामग्री में मिलने वाले गुण और दोष क्रमशः प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त बनते हैं।[९] अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनों में होता है। किन्तु अप्रमाण (संशय-विपर्यय) में अर्थ-परिच्छेद यथार्थ नहीं होता और प्रमाण में वह यथार्थ होता है।

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है, विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है।[१०] अस्तु, प्रामाण्य का निश्चय **स्वतः** और **परतः** होता है, यह विभाग विषय (ग्राह्य वस्तु) की अपेक्षा से है।[११] ज्ञान के स्वरूप ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य निश्चय अपने आप होता है।

अस्तु, प्रमाण जिस पदार्थ को जिस रूप में जानता है, उसका उसी रूप में प्राप्त होना अर्थात् प्रतिभास विषय का अव्यभिचारी होना

---

१. 'तस्मादनुपचरितविसवादित्वं प्रमाणस्य लक्षणमिच्छता निर्णयः प्रमाणमेष्टव्य इति।', प्रमाणमीमांसा, १/८
२. 'प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु', प्रमाणमीमांसा, १/३०
३. 'उपयोगविशेषाभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात्।', अष्टसहस्री, पृ० ४
४. 'ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्।', प्रमाणमीमांसा, १/४
५. जैनसिद्धांतदीपिका, पृ० ९
६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १७५
७. 'प्रमेयं नान्यथा गृह्णातीति यथार्थत्वमस्य।', भिक्षुन्यायकर्णिका, १/११
८. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार, पृ० १७५
९. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, १/२०
१०. 'अयञ्च विभागः विषयापेक्षया, स्वरूपे तु सर्वत्र स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयः', ज्ञानबिन्दु
११. 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च', परीक्षामुख, प्र० १

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रामाण्य कहलाता है।[१] प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य, उसकी उत्पत्ति पर से होती है।[२] ज्ञप्ति की अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होती है। जिन स्थानों का हमें परिचय है उन जलाशयादि में होने वाला ज्ञान अपने आप अपनी प्रमाणता और अप्रमाणता को सूचित करता है। इसके विपरीत अपरिचित स्थानों में होने वाले जलज्ञान की प्रमाणता का ज्ञान 'पनहारियों का पानी भरकर लाना, मेंढकों का शब्द करना अथवा कमल की गंध आना, आदि जल के अविनाभावी स्वतःप्रमाणभूत ज्ञानों से ही होता है।[३]

यद्यपि मीमांसा दर्शन का प्रमाण की उत्पत्ति के विषय में यह अभिप्राय है कि जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उससे अतिरिक्त किसी अन्य कारण की प्रमाणता की उत्पत्ति में अपेक्षा नहीं होती।[४] पर उनका यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि कोई भी सामान्य अपने विशेषों में ही प्राप्त हो सकता है। दोषवान् कारणों से उत्पन्न होने के कारण अप्रामाण्य परतः मानने की तरह आपको गुणवान् कारणों से उत्पन्न होने के कारण प्रामाण्य को भी परतः मानना चाहिए। प्रामाण्य हो अथवा अप्रामाण्य, उनकी उत्पत्ति परतः ही होगी।[५]

सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है कि सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य[६] दोनों को स्वतः तथा बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः[७] और प्रामाण्य को परतः मानता है। पर उनके मूल ग्रन्थों में इन पक्षों का उल्लेख नहीं मिलता है। आचार्य शांतरक्षित ने बौद्धों का पक्ष **अनियमवाद** के रूप में रखा है अर्थात् जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को अवस्था विशेष में स्वतः और अवस्था विशेष में परतः मानने का है,[८] सांख्य दर्शन में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

नैयायिक दोनों को परतः मानते हैं। वे कहते हैं कि वेद की प्रमाणता ईश्वरकर्तृक होने से परतः है,[९] पर उनका यह ऐकांतिक दृष्टिकोण ठीक नहीं है। प्रमाणता या अप्रमाणता सर्वप्रथम तो परतः ही गृहीत होती है। गुण और दोष—दोनों ही वस्तु के धर्म हैं। यदि काचकामलादि दोष हैं तो निर्मलता चक्षु का गुण है। अतः गुण और दोष रूप कारणों से उत्पन्न होने के कारण प्रमाणता और अप्रमाणता—दोनों ही परतः माननी चाहिए। ज्ञप्ति के विषय में पहले कहा जा चुका है कि वे अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः होती है।

यद्यपि दर्शनशास्त्रों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य के **स्वतः-परतः**[१०] की चर्चा बहुत प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा मालूम होता है कि इस चर्चा का उद्गम मूल वेदों[११] को मानने तथा न मानने वालों के पक्ष में हुआ। प्रारम्भ में यह चर्चा शब्दप्रमाण तक ही सीमित रही। फिर वह तार्किक प्रदेश में आने पर व्यापक बन गई और सर्वज्ञान के विषय में प्रामाण्य किंवा अप्रामाण्य के **स्वतः-परतः** का विचार प्रारंभ हो गया।[१२]

यद्यपि बौद्ध ज्ञान की उत्पत्ति में समनन्तर आदि चार प्रत्यय मानते हैं।[१३] सौत्रान्तिक बौद्धों का यह सिद्धांत है कि जो ज्ञान का कारण नहीं होता, वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।[१४] नैयायिक तथा वैशेषिक इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[१५] अतः उनके मत से भी सन्निकर्ष के घटक रूप में पदार्थ ज्ञान का कारण हो जाता है।[१६]

---

१. न्यायदीपिका
२. 'तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति', प्रमाणनय०, १/२१
३. प्रमेयरत्नमाला, १/१३
४. 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥', श्लोकवा०, २/४७
५. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० ३८
६. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः', सर्वद०, पृ० २७९
७. 'सौगताश्चरमं स्वतः', सर्वद०, पृ० २७९
८. 'बहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपिपक्षोऽभीष्टोऽनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि-उभयमप्येतत् किंचित् स्वतः किंचित् परतः इति पूर्वमुपवर्णितम्। अतएव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽस्ययुक्तः। पंचमस्याऽनियमपक्षस्य संचयात्।', तत्वसंग्रह प०, का० ३१२३
९. 'प्रमायाः परतंत्रत्वात्,' न्यायकुसुमांजलि, २/१
१०. 'प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतः वा', प्रमाणमीमांसा, १/८
'तथाहि विज्ञानस्य तावत्प्रामाण्यं स्वतो वा निश्चीयते परतो वा', —तात्पर्य, १/१/१
११. 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थे न संबंधस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकाश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्', जैमि०, सूत्र १-१-४
'सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीयताम्। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा', श्लोकवा०, चोद०, श्लोक ३३
१२. 'तस्मात् तत्प्रमाणम् अनपेक्षत्वात्। न ह्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितव्यम् पुरुषान्तरं वापि, स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ', शाबरभा०, १/१/५; वृहती, १/१/५
१३. 'चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम्।
तथैवाधिपतेयं च प्रत्ययो नास्ति पंचम।', माध्यमिककारिका, १/२
१४. 'नाकारणं विषयः', बोधिचर्या०, पृ० ३९८
१५. न्यायदीपिका, पृ० १
१६. 'ततः सुभाषितम्-इन्द्रियमनसि कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषयः', लघीयस्त्रय स्व०, श्लोक ५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह मालूम होता है कि सर्वप्रथम अकलंकदेव ने उक्त विचारों की आलोचना करते हुए ज्ञान के प्रति मन और इन्द्रिय की कारणता का सिद्धांत स्थिर किया। बाद में सभी जैन दार्शनिक इस मान्यता को पुष्ट करते रहे।[१] ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि यह अमुक अर्थ है।[२] वह यह नहीं जानता कि 'मैं इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ।' ज्ञान का अर्थ के साथ अन्वय[३] और व्यतिरेक घटित नहीं होता तब उसके साथ कार्यकारणभाव स्थिर नहीं किया जा सकता।

जब ज्ञान अतीत और अनागत पदार्थों को, जो कि ज्ञान-काल में अविद्यमान हैं, जानता है तब अर्थ की ज्ञान के प्रति कारणता अपने आप निस्सार सिद्ध हो जाती है। सन्निकर्ष में प्रविष्ट अर्थ के साथ ज्ञान का कार्यकारणभाव तब निश्चित हो सकेगा जब सन्निकर्ष, आत्मा, मन और इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञान के विषय हों।[४] वस्तुतः अन्य कारणों से उत्पन्न बुद्धि के द्वारा सन्निकर्ष का निश्चय होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान में तथा चक्षुरिन्द्रिय में सन्निकर्ष का अभाव है।[५] इस तरह जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है तब उसकी ज्ञान की उत्पत्ति में कारणता कैसे मानी जाय? दूसरी बात यह है कि ज्ञान अमूर्त है, अतः वह मूर्त अर्थ के प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर सकता।[६]

बौद्धों के द्वारा मानित तदुत्पत्ति, तदाकारता और तदध्यवसाय ज्ञान में विषय प्रतिनियत नहीं हो सकते,[७] क्योंकि शुक्ल शंख में होने वाले पीताकार ज्ञान से उत्पन्न द्वितीय ज्ञान में अनुकूल अध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नहीं। वस्तुतः अर्थ में दीपक और घट के प्रकाश्य-प्रकाशक भाव की तरह ज्ञेय-ज्ञापकभाव मानना ही उचित है।[८] अकलंकदेव ने छेदनक्रिया के कर्त्ता और कर्म की तरह ज्ञेय और ज्ञान में भी ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव कहा है।[९] कर्मयुक्त मलिन आत्मा का ज्ञान अपनी विशुद्धि के अनुसार तरतम रूप से प्रकाशमान होता है और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यता के अनुसार पदार्थों को जानता है। अतः अर्थ को ज्ञान में साधकतम कारण नहीं माना जा सकता है।[१०]

इसी प्रकार आलोक ज्ञान का विषय है, परन्तु कारण नहीं। आलोक के अभाव में अन्धकार ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। रात्रिञ्चर उल्लू आदि को आलोक के अभाव में ज्ञान होता है, सद्भाव में नहीं। अंधकार भी ज्ञान का विषय है। साधारणतः यह नियम है कि जो जिस ज्ञान का विषय होता है, वह उस ज्ञान का कारण नहीं होता—जैसे अंधकार।[११]

विषय की दृष्टि से ज्ञानों का विभाजन और नामकरण भी नहीं किया जाता। परन्तु इन्द्रिय और मन रूप कारणों से उत्पन्न होने से ज्ञान का विभाजन नहीं किया जा सकता है। अतः अर्थ आदि को किसी भी दृष्टि से ज्ञान में कारण मानना उचित नहीं है।[१२]

प्रमाण का फल

दार्शनिक क्षेत्र में प्रमाण के फल की चर्चा भी एक खास स्थान रखती है। वैदिक, बौद्ध, जैन सभी परंपराओं में ज्ञान का फल अविद्यानाश या वस्तु-विषयक अधिगम कहा है। उपनिषदों, पिटकों, आगमों में अनेक स्थल पर ज्ञान—सम्यग्ज्ञान के फल का कथन है।[१३] जब तर्क का युग आया तब प्रमाण के फल का विचार साक्षात् दृष्टि तथा परंपरा दृष्टि से हुआ।

अब यह देखना है कि प्रमाण का फल और प्रमाण का पारस्परिक भेद है या अभेद। बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि प्रमाण और प्रमाण-फल—दोनों एक ही हैं।[१४] प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में प्रमाण (ज्ञान) ही फल है, क्योंकि वह अधिगम रूप है अर्थात् ज्ञानगत विषय

---

१. 'तदिन्द्रियातीन्द्रियमनिमित्तम्', तत्त्वार्थसूत्र, १/१४
२. लघी०, श्लोक ५३
३. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, पृ० १
४. लघी० स्व०, श्लोक ५५; प्रमाणमीमांसा, १/२५
५. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड
६. लघी० स्व०, श्लोक ५८
७. 'भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां बिदुः।
हेतुत्वमेवायुक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम्॥', प्रमाणवा०, २/२४७
८. 'नन्वर्थाजन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था', प्रमाणमीमांसा, १/२५
९. 'स्वहेतुजनितोऽर्थः परिच्छेद्य स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेद्यात्मकं स्वतः।', लघी० स्व०, श्लोक ४९
१०. 'तदुत्पत्तिमन्तरेणाण्वावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः तदुत्पत्तावपिच योग्यतावश्याश्रयणीयाः', प्रमाणमीमांसा, १/२५
११. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड
१२. मलयगिरि : नंदीसूत्र-टीका
१३. 'सोऽविद्याग्रन्थिविरतीह सौम्य', मुण्डको०, २/१/१०; सांख्यका०, ६७-६८
'तमेतं उच्चति—यदा च ञात्वा सो धम्मं सच्चानि अभिसयेस्सति। तदा अपिज्जूयसमा उपसन्तो चरिस्यन्ति', विशुद्धि०, पृ० ५४४
१४. 'उभयत्र तदेव ज्ञानं प्रमाणफलमधिगमरूपत्वात्', न्यायप्रवेश, पृ० ७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारूप्य प्रमाण है और **विषयाधिगति** फल।[1] विज्ञानवाद (योगाचार) बौद्धों का कहना है कि ज्ञानगत **स्वसंवेदन** फल है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता ही प्रमाण है।[2] प्रमाण और फल को ज्ञानगत धर्म माना है और उनमें भेद न माने जाने के कारण वे अभिन्न कहे गये हैं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न हेय और उपादेय रूप ज्ञान का फल वास्तव में प्रमाता का फल है, ज्ञान का नहीं।

परन्तु उनका यह कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ जिस पदार्थ से सर्वथा अभिन्न होता है, वह उसी पदार्थ के साथ उत्पन्न होता है। बौद्ध लोग प्रमाण और प्रमाण के फल में कार्य-कारण संबंध मानकर प्रमाण को कारण और प्रमाण के फल को कार्य कहते हैं।[3] यह कार्य-कारण-भाव प्रमाण और उसके फल को सर्वथा अभिन्न मानने में नहीं बनता। दर्शनशास्त्र का यह नियम है कि कारण कार्य के पहले, कार्य कारण के बाद होता है।[4] तत्त्वतः बौद्ध लोगों द्वारा मानित क्षणिकवाद में कार्य-कारण-भाव बन ही नहीं सकता है। किसी भी दृष्टि से प्रमाण और प्रमाण का फल सर्वथा अभिन्न नहीं हो सकते।[5]

न्याय, वैशेषिक, मीमांसक आदि फल को प्रमाण से भिन्न ही मानते हैं।[6] फल के स्वरूप से विषय में वैशेषिक, नैयायिक और मीमांसक सभी का मंतव्य प्रायः एक समान है।[7] सर्वथा एकांत भेद का पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाण और उसका फल अलग-अलग नहीं हैं, कारण कि एक ही प्रमाता प्रमाण और उसका फल रूप होकर पदार्थों को जानता है। अतः प्रमाण और प्रमाण के फल से कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि प्रमाण रूप परिणत आत्मा ही फल रूप कही जाती है।[8] आत्मा को छोड़कर दूसरी जगह फल का ज्ञान नहीं होता। यदि प्रमाण और उसके फल में कथंचित् अभेद न माना जाय तो एक मनुष्य के प्रमाण का फल दूसरे मनुष्य को मिलना चाहिए और इस तरह प्रमाण और उसके फल की कोई भी व्यवस्था नहीं हो सकती।[9]

जैन दर्शन में चूंकि एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनों रूप से परिणति करता है, अतः प्रमाण और फल अभिन्न माने गये हैं तथा कार्य और कारण रूप से क्षण भेद और पर्याय भेद होने के कारण ये भिन्न हैं।[10] भेदाभेदविषयक चर्चा में जैन दर्शन अनेकांत दृष्टि का ही उपयोग करता है।[11] सर्वथा अभेद में—उनमें एक **व्यवस्थाप्य,** दूसरा **व्यवस्थापक,** एक प्रमाण और दूसरा फल—यह भेद व्यवहार हो नहीं सकता। जिसे प्रमाण उत्पन्न होता है, उसीका अज्ञान हटता है,[12] वही हित को छोड़ता है, हित का उपादान करता है और उपेक्षा करता है। इस तरह एक प्रमाता (आत्मा) की दृष्टि से प्रमाण और फल में कथंचित् अभेद हो सकता है।[13] प्रमा के साधकतम ज्ञान को प्रमाण कहते हैं तथा व्यापार प्रमिति है। इस प्रकार पर्याय की दृष्टि से उनमें भेद है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण और फल में कथंचित् अभेद, कथंचित् भेद है।[14]

नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य आदि इन्द्रियव्यापार के बाद होने वाले सन्निकर्ष से लेकर हानोपादानोपेक्षाबुद्धि तक के क्रमिक फलों की परंपरा को फल कहते हुए भी उस परंपरा से पूर्व-पूर्व फल को उत्तर-उत्तर फल की अपेक्षा से प्रमाण भी कहते हैं। इन्द्रिय को तो वे प्रमाण ही मानते हैं, फल नहीं। जब प्रमाण का कार्य अज्ञान की निवृत्ति करना है तब उस कार्य के लिए इन्द्रिय, इन्द्रियव्यापार और सन्निकर्ष, जो कि अचेतन हैं, कैसे उपयुक्त हो सकते हैं।[15]

---

१. 'उभयत्रेति प्रत्यक्षेऽनुमानं च तदेव ज्ञानं प्रत्यक्षानुमानलक्षणं फलं कार्यम्', न्यायप्रवेशवृत्ति, पृ० ३६
२. 'विषयाधिगतश्च प्रमाणफलमिष्यते ।
स्ववित्ति वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥', तत्त्वसं०, १३४४
३. प्रमाणसमुच्चय, १/९; न्यायबिंदु टीका, १/२१
४. 'प्रमाणं कारणं फलं कार्यमिति', स्याद्वादमंजरी
५. 'द्विष्ठसंबंधसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात् ।
द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति संबंधवेदनम् ॥', स्याद्वादमंजरी
६. श्लोकवा०, प्रत्यक्ष, श्लो० ७४-७५
७. न्यायभा०, १/१/३; प्रश० कन्दली, पृ० १९८-९९
८. अष्टसहस्री, पृ० २८३-८४
९. 'फलमर्थप्रकाशः', प्रमाणमीमांसा, १/३४
१०. 'कर्मोन्मुखो ज्ञानव्यापारः फलम् । कर्तृव्यापारमुल्लिखन् बोधः प्रमाणम्', प्रमाणमीमांसा, १/३५-३६
११. जैनसिद्धांतदीपिका, पृ० ९
१२. 'एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावात्तु भेद इति भेदाभेदरूपः स्याद्वादमबाधितमनुपतति', प्रमाणमीमांसा, १/३७
१३. 'यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः', परीक्षामुख, ५/३
१४. 'करणरूपत्वात् क्रियारूपत्वाच्च प्रमाणफलयोर्भेदः । अभेदे प्रमाणफलभेदव्यवहारानुपपत्तेः प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत्', प्रमाणमीमांसा, १/४१
१५. अष्टसहस्री, अष्टशती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परंपरा में सबसे पहले तार्किक सिद्धसेन और समंतभद्र हैं, जिन्होंने लौकिक दृष्टि से प्रमाण के फल का विचार रखा।[१] प्रमाण का साक्षात् फल **अज्ञाननिवृत्ति** ही है,[२] व्यवहित अर्थात् परंपराफल **हानोपादानोपेक्षाबुद्धि** है।[३] आचार्य विद्यानंद ने **अज्ञाननिवृत्ति** और **स्वपरव्यवसिति** रूप प्रमाण के फल की ओर संकेत किया[४]— जिसका अनुसरण प्रभाचंद्राचार्य ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में और देवसूरि ने स्याद्वाद-रत्नाकर में किया। यह स्मरण रहे कि केवलज्ञान का फल केवल उपेक्षा ही है।[५] केवलज्ञानी वीतरागी है, अतः उसमें रागद्वेष-मूलक हेय उपादेय बुद्धि नहीं हो सकती। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान में—हान, उपादान और उपेक्षा तीनों बुद्धियां फल रूप होती हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और हानादि बुद्धि—इस धारा में अवग्रह केवल प्रमाण ही है और हानादि बुद्धि केवल फल ही, परन्तु ईहा से धारणापर्यंत ज्ञान पूर्व की अपेक्षा फल होकर भी अपने उत्तरकार्य की अपेक्षा प्रमाण भी हो जाते हैं। एक ही आत्मा का ज्ञान-व्यापार जब ज्ञेयोन्मुख होता है तब वह प्रमाण कहा जाता है और जब उसके द्वारा **अज्ञाननिवृत्ति** या **अर्थप्रकाश** होता है तब वह फल कहलाता है।[६] इस प्रकार प्रमाण का फल (प्रमिति) प्रमाण से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है।

अस्तु, प्रमिति चेतनात्मक है अतः उसका साधकतम अज्ञान का विरोधी ज्ञान प्रमाण ही हो सकता है।[७] नैयायिकों द्वारा मानित सामग्री प्रामाण्यवाद[८] में कारकसाकल्य या इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अचेतन और अज्ञानरूप है। अज्ञानरूप व्यापार प्रमा में साधकतम न होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता।[९]

संसार परम-दुःख रूप है, इसमें एक दुःख नहीं सबकुछ दुःख ही दुःख है। प्रथमतः यह जीव निगोद में एक श्वास में अठारह-अठारह बार जन्म लेता है। साधारण नामकर्म के उदय से यह शरीर में अनन्तकाल के लिए जन्म लेता है। यह शरीर अनन्तानन्त जीवों का होता है, अतः वे अनन्तानन्त जीव एक साथ जन्म लेते हैं और एक साथ ही मरते हैं। संसार में जीव की हितकारक वस्तु कोई नहीं है, इसीलिए इस जगत् से उदासीन होकर जो आत्म-चिंतन में लगे रहते हैं वही सुखी हैं। ज्ञान को आत्म-चिंतन में लगाना ही श्रेय है और यही परम निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन है। वस्तुतः सम्यग्ज्ञान ही सम्यक्चारित्र की प्राप्ति का साधन है और स्वानुभूतिरूप ज्ञान ही सम्यग्दर्शन का लक्षण है। **सारसमुच्चय** में कहा भी गया है—

स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चारित्रं दर्शनं तथा।
तपःसंरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५६॥

हे आत्मन् ! तुम्हारा हित सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र व तपःसंरक्षण है। अभिप्राय यह है कि आत्मा का हित केवल रत्नत्रयरूप धर्म ही है। अतः इसमें ही रुचि रखनी चाहिए, जिससे कि जीव मोक्ष प्राप्त कर सके।
(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ३, दिल्ली, वि० सं० २०१३ से उद्धृत)

१. आप्तमीमांसा, का० १०२; न्याया०, का० २८
२. 'अव्यवहितमेव—अज्ञाननिवृत्तिर्वा', प्रमाणमीमांसा, १/३८
३. परीक्षामुख, प्र० ५, सू० १-२
४. तत्त्वार्थश्लोक०, पृ० १६८; प्रमाणपरीक्षा, पृ० ७९
५. 'प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधी ॥', न्याया०, २८
६. 'अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम्', प्रमाणमीमांसा, १/३९
७. 'सिद्धं यन्न परापेक्ष्यं सिद्धौ स्वपररूपयोः ।
तत्प्रमाणं ततो नान्यदपि कालमचेतनम् ।', सिद्धिविनिश्चय
८. 'अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्', न्यायमं०, पृ० १२
९. न्यायविनिश्चय टीका, लि० पृ० ३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org